शोध मंथन Vol. XV No.II Apr.-June 2024 ISSN: (P) 0976-5255 (e) 2454-339X
Impact Factor 8.8777 (SJIF)

भारतीय संस्कृति की संवाहक लोक एंव जनजातिए कलाएं

प्राप्तिः 28.05.2024
स्वीकृतः 28.06.2024

मूल चन्द वर्मा
असिस्टेंट प्रोफेसर, चित्रकला विभाग
एम०एम०एच० कालेज गाजियाबाद
ईमेलः *moolchandv565@gmail.com*

48

सारांश

संस्कृति किसी भी समाज का दर्पण होती है। समाज के दर्शन, चिंतन व उसके रहन–सहन, दृष्टिकोण व जीवन जीने के तौर तरीके सभी कुछ उसकी संस्कृति के माध्यम से जान व समझ पाते हैं। प्रत्येक संस्कृति सदैव कलाओं के द्वारा ही लोगों से संवाद करने का माध्यम पाती रही है। वह नृत्य, गीत, संगीत, कला, नाटक, नौटंकी इत्यादि के माध्यम से लोगों द्वारा प्रकट होती रही है। संस्कृति के संवाहक के रूप में लोक कला की बहुत सारी पारंपरिक विधाएं रही है, जिन्हें विविध प्रकार के लोक माध्यमों के द्वारा हमेशा से प्रकट किया जाता रहा है। यह माध्यम सदैव एक प्रकार से लोक के दैनिक जीवन अथवा आवसरिक व्यवहार के अंग रहे हैं। आज लोक माध्यमों का चाहे जैसा नवीन रूप हमारे सामने है किंतु हमें इस बात से कभी नहीं इनकार करना चाहिए की पारंपरिक कला ही इन सब का मूलाधार रही है। हमारी लोक संस्कृति कला के पारंपरिक माध्यमों द्वारा ही लोक जीवन में विशिष्ट प्रतिष्ठा को प्राप्त की है। लोकजीवन इन माध्यमों से जन सामान्य के संपर्क को ही नहीं अपित संपूर्ण समाज के संवाद और सामाजिक सहशिक्षण को भी प्राप्त करता है।

मुख्य बिन्दू

संस्कृति, पारंपरिक, समाज, लोककला, जातियां व जनजातियां।

संस्कृति एवं लोककला

वर्तमान वैज्ञानिक युग में सूचना क्रांति व बाजारवाद नें निश्चित रूप से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सभी संस्कृतियों को कम या ज्यादा प्रभावित किया है। हमें यह स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है कि जो समाज सबसे ज्यादा स्वयं को वैश्विक स्तर पर आधुनिक तरक्की से जोड़ पाया है वहां की संस्कृतियों में बड़े पैमाने पर विस्तृत परिवर्तन देखने को मिले हैं। विकास एक उर्दगामी प्रक्रिया है। वैज्ञानिक खोज और औद्योगिक क्रांति से इसमें और तीव्रता आयी है। प्रत्येक समाज अपने गठन से लेकर आज तक इस प्रक्रिया में आगे बढ़ा है। आज यदि हम स्वयं अपने ही समाज की अपनी पूर्व की पीढ़ियों की संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन करें तो हम पाते हैं कि नब्बे के दशक के बाद जो तीव्र गामी परिवर्तन हमारी संस्कृति में देखने को मिले हैं वह पिछले कई दशकों में नहीं हो पाए थे।

वैश्वीकरण की उदार नीतियों के कारण अपने साथ–साथ दूसरी संस्कृतियों के बीच तीव्रता से मेल–जोल बढ़ा है, जिससे हम एक दूसरे की संस्कृतियों को आसानी से जान–समझ पाए व उनकी कुछ अच्छी विशेषताओं को अपनी सुविधा के अनुरूप आत्मसात करने में सफल हो पाए हैं। संस्कृति किसी भी समाज का दर्पण होती है समाज के दर्शन, चिंतन व उसके रहन–सहन जीवन जीने के तौर तरीके व जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण सभी कुछ उसकी संस्कृतियों के माध्यम से जान पाते हैं।

लोक समाज का प्रयोग सामान्यता उस जनता के लिए किया जाता है जो साधारण कोटि की है और शहरी जीवन से सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है। प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में 'जन' के लिए पर्यायवाची के रूप में 'लोक' शब्द का प्रयोग हुआ है। अर्थात ऐसा समाज जो शहरी जीवन से दूर नितांत प्राकृतिक वातावरण में निवास करता है और उसके द्वारा विविध मांगलिक अवसरों पर गढ़ी गई कला को हम लोक कला अथवा जनजातीय कला कहते हैं।

लोककला की उत्पत्ति

भारत भौगोलिक विविधता पूर्ण ग्रामीण प्रधान देश है। भारत की बहुसंख्यक आबादी सुदूर गांवों में, जंगलों में, पर्वतीय क्षेत्र में आज भी निवास करती है, जिसकी अपनी–अपनी सांस्कृतिक परंपरा उसके आविर्भाव के साथ चली आ रही है। यदि हम मानव जीवन के इतिहास में जाएं तो हम पाते हैं कि आदिम काल से ही आदिमानव अपने चारों ओर की परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने के लिए कुछ चिन्हों, प्रतिको का प्रयोग शुरू से करता चला आया है। आकृतियों का प्रयोग उसने अपने विशेष प्रयोजनों जैसे शिकार को बस में करना, प्राकृतिक घटनाओं यथा बाढ़, आंधी, तूफान, भूकंप जैसी विषय परिस्थितियों से निपटने व उन्हें नियंत्रित करने के लिए करता चला आ रहा है। आश्चर्य की बात है कि जब मानव भाशाई रूप से बिल्कुल अनभिज्ञ था। उसे किसी परोक्ष या प्रत्यक्ष ईश्वरीय सत्ता की कोई समझ नहीं थी तब भी उसने इन आकृतियों का प्रयोग अपनी स्थितियाओ, परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करने के लिए किया। ये आकृतियां व चिन्ह उसके लिए कतई सौन्दर्य मूलक नहीं थे। इनकी उत्पत्ति ही जीवन की कठिनाइयों को कम करने के लिए हुई थी। तब आदिम चित्रों में हमें प्राकृतिक चिन्हों के साथ–साथ कुछ ज्यामितीय आकृतियां जैसे– सूर्य, चंद्रमा, तारे, स्वास्तिक, त्रिभुज, चतुर्भुज, गोला देखने को मिलते है। इस प्रकार हम समझ पाते हैं कि इन चित्रों के प्रयोजन के पीछे कहीं ना कहीं उसके मंगल की कामना सदैव से रही है।

भारत कृषि प्रधान विविध संस्कृतियों वाला देश है यहां के हर क्षेत्र में वास करने वाली जातियां उपजातियां एवं जनजातियों के रहन–सहन के तौर–तरीके उसकी भौगोलिक भिन्नता के आधार पर अलग–अलग है। इन जातियों जनजातियों की जीवन के प्रति अपनी मान्यताएं एवं परंपराएं हैं जो सदियों से अपने इस मूल रूप में चलती चली आ रही है। यह प्रायः देखने को मिलता है की समय के साथ शिक्षा और वैज्ञानिक खोज ने हर समाज को आगे आने का संसाधन उपलब्ध कराया है। 21वीं सदी में बाजार हमारी देशज संस्कृति व परम्पराओं पर तेजी से असर डाल रहा है परिणाम स्वरूप हमें हमारी कला में भी माध्यम व तकनीकि के स्तर पर बड़ा परिवर्तन देखने को मिल रहा है।

संस्कृति एंव लोक कला का अन्तः सम्बन्ध

प्रत्येक संस्कृति सदैव कलाओं के द्वारा ही लोगों से संवाद करने का माध्यम पाती रही है। वह नष्त्य, गीत, संगीत, कला, नाटक, नौटंकी इत्यादि के माध्यम से लोगों द्वारा प्रकट होती रही है। संस्कृ ति के संवाहक के रूप में लोक कला की बहुत सारी पारंपरिक विधाएं रही है। जिन्हें विविध प्रकार के लोक माध्यमों के रूप में देखा जा सकता है। यह माध्यम सदैव एक प्रकार से लोक के दैनिक जीवन अथवा आवसरिक व्यवहार के अंग रहे हैं। आज लोक माध्यमों का चाहे जैसा नवीन रूप हमारे सामने है किंतु हमें इस बात से कभी नहीं इनकार करना चाहिए की पारंपरिक कला ही इन सब का मूलाधार रही है। हमारी लोक संस्कृति कला के पारंपरिक माध्यमों द्वारा ही लोक जीवन में विशिष्ट प्रतिष्ठा को प्राप्त की है। लोकजीवन इन माध्यमों से जन सामान्य के संपर्क को ही नहीं अपित संपूर्ण समाज के संवाद और सामाजिक सहशिक्षण को भी प्राप्त करता है। कलाएं संस्कृति के माध्यम से प्रसार पाती हैं। यह प्रसार कलाओं में हर प्रकार से देखने को मिलता है चाहे वह विषय के रूप में देखा जाए या फिर तकनीकी अथवा माध्यम के रूप में।

21वीं शताब्दी में आज जब हम भारतीय संस्कृति और उसके मूल पहचान की बात करते हैं तो हमें सबसे पहले इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भारतीय समाज में प्राचीन काल से जीवन के प्रति क्या आस्था रही है? जीवन के मूल उद्देश्य क्या रहे हैं? तो हम पाते हैं कि भारत कभी भी यूरोपीय संस्कृति की तरह भौतिकता का पक्षधर नहीं रहा है। हम सदैव से आत्मिक शांति व समृद्धि के पक्षधर रहे हैं। हम सभी को समान सम्मान की दृष्टि से देखते रहे हैं। इसीलिए तो हम– **सर्वे भवंतु सुखिना, सर्वे संतु निरामयाः सर्वे भद्राणि पश्यंतु, मां कश्चिद् दुःख भाग भवेत।** की धारणा में विश्वास करते आये हैं। भारतीय संस्कृति में केवल पशु–पक्षियों की ही नहीं अपितु पेड़–पौधो की भी पूजा होती रही है। हम इन सबमें अपनी ही तरह की आत्मा का वास मानते हैं। इसीलिए इन सबको अपने ही बराबर हमारे सुख–दुख का भागीदार भी मानते हैं। भारत की अनेक जातियों, जनजातियों में विभिन्न प्रकार से मनाये जाने वाले तीज–त्योहारो व मांगलिक अवसरों पर बनने वाली लोक कलाओं व जनजातीय कलाओं में हाथी, घोड़ा, गाय, बैल, सारस, मोर, हंस, तोता–मैना की आकृतियों के साथ–साथ आम, नीम, महुआ, बेल, नारियल, कमल, तुलसी, पीपल, बरगद व कल्पवृक्ष इत्यादि के चित्र को आसानी से देख व समझ सकते हैं। कई जगह हमें सुआ अथवा कबूतरों का संदेश संप्रेषण मिलता है। हिंदी के प्रसिद्ध कवि 'मलिक मोहम्मद' जायसी की प्रसिद्ध रचना 'नागमती वियोग वर्णन' तो पूरी तरह से हीरामन तोते के माध्यम से नायक को भेजे जाने वाले संन्देश पर ही लिखी गई है। अपने नायक को संदेश के माध्यम से नायिका कहती हैं कि–

पिय सो कहे सन्देषणा, ऐ भंवरा ऐ काग।
सो धनि विरही जर मुई, तेहिक धुआं हम लाग।

इसी प्रकार मानसोल्लास में परावत विनोद के तहत कबूतरों से संदेश भेजने की जानकारी प्राप्त होती है। भारतीय लोकगीतों में विरहिणी नायिकाओं द्वारा बहुधा तीतर, हंस, कौवा, बगुला, मोर और सुआ से संवाद करने व उनसे अपने मन की बात प्रेमी तक पहुंचाने के प्रसंग मिलते हैं।

भारत शुरू से ही विविध धर्मो, मान्यताओं व संस्कृतियों वाला देश रहा है भारत की बहुसंख्यक जातियां व जनजातियां सुदूर ग्रामीण अंचलों में निवास करती है। इन जातियों, जनजातियों व उपजातियों का शुरू से प्रकृति के प्रति सदैव विशेश आग्रह रहा है। इसीलिए शुरू से ही प्राकृतिक उपादानों को किसी न किसी रूप में पूजते चले आए हैं। इन जातियों–जनजातियों द्वारा अपने मांगलिक अवसरों जैसे– विवाह, व्रत, अनुश्ठान, शिकार, खेल, जन्म, मरण व जीवन के विविध संस्कारों इत्यादि पर अपने लोकाचार के अनुरूप गीत–संगीत, नृत्य, गायन, वादन आदि कार्य–क्रम अपनी देशज शैली में संपादित किए जाते हैं। उनकी यह गहन मान्यता है कि इन कार्यक्रमों पर ऐसे लोकाचार की रस्में संपादित करने से हमारे हित व उद्देश्य की पूर्ति में आसानी होती है। आज भारत के कई हिस्सों में लोक कला का प्रचलन इसी रूप में होता आया है। लोक कला का एक विस्तृत समावेश भारत के प्रत्येक क्षेत्र में वास करने वाली जातियों–जनजातियों में हमें बखूबी देखने को मिलता है। सच्चे संदर्भ में देखा जाए तो आज भी इन्हीं जातियों, जनजातियों द्वारा सर्वाधिक कार्य लोक कला पर किया जाता रहा है। आज भी चेरियाल पट्ट चित्रण (आंध्र प्रदेश) चितेरी कला (छत्तीसगढ़) चितेरी लोक चित्र शैली (उत्तर प्रदेश) कोहबर भित्ति चित्रण (बिहार एवं उत्तर प्रदेश) निमाड़ी लोक चित्र (मध्य प्रदेश) मधुबनी व मंजूशा शैली (बिहार) गोदना (बिहार) चित्रावण (मध्य प्रदेश) में किया जाता है। जनजातीय समाज में यदि हम देखें तो पाते हैं की गोड चित्रण (मध्य प्रदेश छत्तीसगढ़) जादोपट चित्रण (झारखंड) विगुली (महाराष्ट्र) सहरिया जनजाति चित्रण व संथाली चित्रण (झारखंड) सौरा आदिवासी चित्र (उड़ीसा) सारथ कला (गुजरात) सोहराई चित्रण कला (झारखंड) वर्ली (महाराष्ट्र) में विशेष प्रसिद्ध है।

भारतीय संस्कृति में विविधता अपनी इसकी एक अलग महत्त्वपूर्ण पहचान है। एक बहुत पुरानी और प्रचलित कहावत है– **"कोस कोस पर बदले पानी, चार कोस पर बाणी।"**

कहावत के अनुरूप ही भारत के प्रत्येक आंचल की जातियों–जनजातियों की अपनी सांस्कृतिक विरासत है। सभी भारतीय संस्कृतियो का लक्ष्य अपने उपलब्ध सीमित संसाधनों के अनुरूप मानव जीवन जीने के लिए एक तौर–तरीका देकर उसे सरल, सरस व सुगम बनाना है। उत्तर प्रदेश के पूर्वोत्तर जिले जैसे– बलरामपुर, बहराइच, लखीमपुर और पीलीभीत जिलों में थारू जनजाति बड़ी संख्या पाई जाती है। यह लोग अपनी रोजमर्रा के जीवन में प्रयोग होने वाली वस्तुओं व शिल्प को स्वयं अपने हाथों से बनाते हैं। थारू लोगों के लिए कला, उनके जीवन का एक हिस्सा है। कला और सुंदरता के लिए उनके प्रेम को इस बात से आसानी से जाना जा सकता है कि उनके दैनिक जीवन के इस्तेमाल की बहुतांश वस्तुएं सौंदर्यीकरण के विभिन्न रूपों से भरपूर हैं। इस प्रकार कला, थारू लोगों के जीवन के लगभग हर पहलू में गुथी हुई है। इन कलाओं द्वारा हम उनके सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन को भली–भांति समझ व जान पाते हैं। उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा इनके संरक्षण व संवर्धन के लिए इसी वर्ष एक कार्यक्रम की घोषणा भी की गई ।

निष्कर्ष–

संस्कृति किसी भी समाज के निजी पहचान होती है। हम संस्कृति के माध्यम से उसके रहन–सहन के तौर तरीके जीवन दर्शन को भली भांति समझ पाते हैं। सांस्कृति निष्ठ समाज स्थिर

और उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर होता है। संस्कृत विहीन समाज में हम शांति की स्थाई कल्पना कभी नहीं कर सकते हैं। भारत अपनी उन्नत संस्कृति के लिए पूरे विश्व में अपनी अलग पहचान रखता है इसीलिए हम सभी को अपनी संस्कृति के बचाव के लिए मिला–जुला सार्थक प्रयास करना चाहिए। हमारे तंत्र को इस प्रकार विकसित किया जाना चाहिए कि हमारी संस्कृति की मूल भावना का प्रतिकार किए बिना ही हम विकास के भागीदार बन सके, पर दुर्भाग्य से ऐसा होता दिख नहीं रहा है यदि किसी क्षेत्र अथवा भूभाग में ऐसा हो भी रहा है तो उसमें सरकार का नजरिया उपेक्षित अथवा खानापूर्ति भरा ही रहा है। आंकड़े बताते हैं कि पिछले तीन दशकों में भारत की बहुसंख्यक आबादी का पलायन शहरों की ओर बहुत तेजी से हुआ है। वर्तमान समय में भारत के गांव भी तेजी से आधुनिक गांव में परिवर्तित सबकी नैतिक जिम्मेदारी बनती है कि हम भारतीय जीवन दर्शन के अनुरूप चली आ रही है अपनी संस्कृति को अक्षुण्ण रखने में अपना हर संभव योगदान दें, क्योंकि सभी के भले में ही मानव जीवन की भलाई है। यदि हम सभी को नष्ट करके अपना विकास करना चाहते हैं तो मानव जीवन का विनाश भी निश्चित है। सुखमय जीवन के लिए हमें सदैव **'जियो और जीने दो'** के मूल मंत्र का पालन करना चाहिए।

सन्दर्भ

1. गुप्त, डॉ. हृदय नाथ. (2019). देशज कला. राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी राजस्थान. पृष्ठ **41 व 47**.
2. भानावत, डॉ. महेन्द्र व 'जुगनू', डॉ. श्री कृष्ण. (2003). भारतीय लोक माध्यम. राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमीः जयपुर. पृष्ठ **1, 2, 92 व 93.**
3. राव, एम. वी. नारायण. अनुवाद. श्रीनाथ, डी.एन. (2004). हमारा हस्त शिल्प. नेशनल बुक ट्रस्टः इंडिया. पृष्ठ **68 व 69.**
4. वर्मा, डॉ. विमला. (1987). उत्तर प्रदेश की लोक कला. भूमि और भित्ति अलंकरण. जय श्री प्रकाशनः दिल्ली. पृष्ठ **13 व 14.**
5. गुप्त, डॉ. जगदीश. (1967). प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला. नेशनल पब्लिशिंग हाउसः दिल्ली. पृष्ठ **16, 17, व 18.**
6. https://prarang.in/jaunpur/posts/8310/The-unique-art-of-Tharu-tribe-found-in-Uttar-Pradesh.